

प्रकाशकीय

भगवान बाहुबली के अंतर्बाह्य स्वरूप को प्रतिबिंबित करनेवाली श्रवणबेलगोला स्थित विशाल प्रतिमा विश्व को वीतरागता का संदेश दे रही है।

फरवरी १९८१ में उक्त प्रतिमा का सहस्राब्दी-महोत्सव सारे देश में अत्यन्त उत्साहपूर्वक मनाया गया। उक्त अवसर पर उक्त मूर्ति और मूर्तिमान के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया था।

इसी श्रृंखला में लोकप्रिय लेखकर एवं मौलिक चिन्तक डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने आत्मधर्म, मार्च १९८१ के सम्पादकीय लेख में भगवान बाहुबली की मूर्ति और उनके जीवन के सम्बन्ध में बिल्कुल अनूठा और नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, जिसे 'अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन' ने इस लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया था।

इसके १०-१० हजार के चार संस्करण क्रमशः मार्च, अप्रैल और मई १९८१ तथा अगस्त १९९३ में प्रकाशित किये गये थे, जो शीघ्र ही समाप्त हो गये।

इस निबन्ध के मराठी, कन्नड, तमिल व अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। अबतक इसकी ५३ हजार प्रतियाँ हिन्दी में और ५ हजार अंग्रेजी, ५ हजार मराठी और ८ हजार कन्नड तथा हिन्दी, मराठी, तमिल आत्मधर्म में १० हजार - इसप्रकार कुल मिलाकर ८१ हजार प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

फरवरी २००६ में होनेवाले महामस्तकाभिषेक को दृष्टिगत रखते हुए १३ हजार प्रतियों का पंचम संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

आप सभी इस कृति के माध्यम से अपना आत्मकल्याण कर मुक्ति पथ पर अग्रसर हों, इसी भावना के साथ -

- ब्र. यशपाल जैन
प्रकाशन मंत्री

गोम्मटेश्वर बाहुबली

(एक नया चिन्तन)

लेखक

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न,

एम.ए., पीएच. डी.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०७४५८, २७०५५८१, फैक्स : २७०४१२७

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

गोम्मटेश्वर बाहुबली

(एक नया चिन्तन)

भारत एक विशाल देश है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक हजारों किलोमीटर लंबाई में फैले इस भारतवर्ष में रहन-सहन, खान-पान एवं भाषा आदि अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। अध्यात्म तो भारत की मिट्टी की अपनी विशेषता है – इस कारण दार्शनिक विभिन्नताएँ भी इससे कम नहीं हैं। अनेक जातियों और संप्रदायों का भी यह भारत अजायबघर है।

इसप्रकार अखण्ड भारत की एकता के शत्रु साम्प्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद, धार्मिक उन्माद आदि अनेक विघटनकारी तत्वों के रहते हुए भी यह भारत यदि संगठित है, एकता के सूत्र में आबद्ध है; तो उसका एकमात्र कारण हमारे ये तीर्थ हैं, जो उत्तर से लेकर दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। ये एक ऐसे मजबूत सूत्र हैं, जिनमें विभिन्न वर्णों और गंध वाले पुष्प सुगठित रूप से पिरोये हुए हैं, संगठित हैं और सुशोभित हो रहे हैं। तीर्थों रूपी सूत्र में आबद्ध होकर भारत की इन विभिन्नताओं ने एक रंग-बिरंगे सुगंधित पुष्पों की आकर्षक माला का रूप ले लिया है; विघटनकारी विभिन्नता ने आकर्षक एकता का रूप ले लिया है।

यह भी एक विचित्र संयोग ही कहा जाएगा कि श्रमण संस्कृति के चौबीसों तीर्थकर और वैदिक संस्कृति के चौबीसों अवतार उत्तर भारत में ही हुए हैं तथा दोनों ही संस्कृतियों के प्रमुख आचार्य दक्षिण भारत की देन हैं।

यद्यपि यह तथ्य भारत के सभी धर्मों, संस्कृतियों और तीर्थों पर समान रूप से प्रतिफलित होता है, तथापि यहाँ जैनधर्म और श्रमण संस्कृति के संदर्भ में विचार अपेक्षित है।

जैनधर्म व श्रमण संस्कृति से सम्बन्धित जितने भी सिद्धक्षेत्र हैं, वे सभी उत्तर भारत में हैं, एक भी सिद्धक्षेत्र दक्षिण भारत में नहीं है। अतः दक्षिण भारत वाले तो सिद्धक्षेत्रों की वंदना करने के लिए उत्तर भारत में सहज आते; पर यदि दक्षिण भारत में गोम्मटेश्वर बाहुबली की इतनी विशाल मूर्ति नहीं होती तो उत्तर भारत के धार्मिक यात्री दक्षिण भारत किसलिए जाते? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

दक्षिण भारत में इतनी विशाल मूर्ति के निर्माण के कारण अनेक हो सकते हैं और ऐतिहासिक एवं किंवदन्तियों के आधार पर अनेक बताये भी जाते हैं, पर मेरी दृष्टि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण दक्षिण भारत में धार्मिक इतिहास या पुराणों के अनुसार तीर्थकरों के कल्याणक आदि महत्वपूर्ण स्थान न होने के कारण उत्तर भारत के धार्मिक यात्रियों को दक्षिण भारत आने के लिए आकर्षण पैदा करना भी हो सकता है।

यदि सम्मेशिखर और गिरनार पर कोई आकर्षक मंदिर या मूर्ति न हो तो भी लोग उनकी यात्रा अवश्य करेंगे; कारण कि इन क्षेत्रों का सम्बन्ध तीर्थकरों के पंचकल्याणकों से है। पर दक्षिण भारत का सम्बन्ध तीर्थकरों के पंचकल्याणकों से न होने के कारण जबतक कोई विशेष आकर्षण न होगा, उत्तर भारत के यात्रियों का इतनी दूर आना, कम से कम उस युग में तो असंभव

ही था, जबकि यातायात के साधन सुलभ न थे। उत्तर से दक्षिण जाने में वर्षों लग जाते थे, रास्ते में अगणित कठिनाइयाँ थीं, जान की बाजी लगाकर ही जाना पड़ता था।

जिसने इस विशाल मूर्ति का निर्माण कराया है, उसके हृदय में यह भावना भी अवश्य रही होगी कि ऐसे आश्चर्यकारी जिनबिम्ब की स्थापना की जावे कि जो हिमालय की तलहटी तक अपना आकर्षण बिखेर सके। मूर्ति के उत्तराभिमुख होने से भी इस बात की पुष्टि होती है।

उसकी भावना रही हो या न रही हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि हजार वर्ष से आज तक उत्तर भारत के जैन यात्रियों की दक्षिण यात्रा का आकर्षण बाहुबलीजी की यह विशालकाय मूर्ति ही रही है। दूसरा आकर्षण मूडबद्री में विराजमान रत्नमयी जिनबिम्ब भी हैं। इनकी यात्रा करने के लिए लाखों यात्री प्रति वर्ष उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर जाते हैं, बाहुबलीजी के दर्शनों की पावन भावना से खिंचे चले जाते हैं और उनके गुणगान करते वापस आते हैं। इतनी आकर्षक मूर्तियाँ बहुत कम होती हैं जो अपने आकर्षण से मूर्तिमान को भुला दें। बाहुबली का विशाल जिनबिम्ब ऐसा ही है कि लोग दर्शन करते समय मूर्ति के ही गीत गाते दिखाई देते हैं, मूर्तिमान की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

इसप्रकार की चर्चा करते लोग आपको कहीं भी मिल जावेंगे कि क्या विशाल मूर्ति है, पत्थर भी कितना साफ व बेदाग है, हजार वर्ष में कहीं कोई क्रेक भी नहीं आया। क्या चमक है, क्या दमक है, हजार वर्ष तक तो उसका पॉलिश भी फीका नहीं

हुआ। धन्य है उस कारीगर को जिसने इसे गढ़ा है, वह भी कम धन्य नहीं जिसने इसे गढ़ाया है, आदि न जाने कितने गीत गावेंगे उनके जिन्होंने बनाई है, बनवाई है, या फिर पत्थर पॉलिश की चर्चा करेंगे। इन सबकी चर्चा में वे कहीं नहीं आवेंगे जिनकी यह मूर्ति है, जिन्होंने युग के आदि में घोर तपस्या कर सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त की थी। लोगों को हजार वर्ष याद आते हैं, हजार वर्ष की महिमा आती है, मूर्ति को हजार वर्ष हो गए; पर जिसकी यह मूर्ति है; उसे कितने हजार वर्ष हुए, इसकी ओर ध्यान नहीं जाता, महिमा नहीं आती।

सामान्य मूर्तियाँ तो मूर्तिमान की याद कराने वाली होती हैं, पर यह तो ऐसी अद्वितीय मूर्ति है जो दर्शक को इतनी अभिभूत कर देती है कि वह स्वयं को तो भूल ही जाता है, मूर्तिमान को भी भूल जाता है।

उत्तर और दक्षिण को जोड़ने वाली इस विशाल मूर्ति के सामने जब महामस्तकाभिषेक के अवसर पर बीस प्रान्तों से आये बीस भाषा-भाषी लाखों लोग खड़े होंगे, तब वे सब भेदभाव भूलकर यह अनुभव अवश्य करेंगे कि हम सब इस एक देव के उपासक हैं, एक हैं। इस एकता की प्रतीक है यह विशाल मूर्ति। तथा बाहुबली के असीम धैर्य एवं ध्यान की भी प्रतीक है कि जिसमें उनके शरीर पर बेलें चढ़ गईं, जहाँ वे खड़े थे, वहाँ सर्पों ने बिल बना लिए; पर उनका धैर्य भंग नहीं हुआ, ध्यान भंग नहीं हुआ।

वे अन्तर में गए सो गए, फिर बाहर आए ही नहीं और कुछ

क्षणों को उनका उपयोग आत्मा से हटा भी तो तत्काल फिर उसी में लगाने के उग्र पुरुषार्थ में लग गये। यद्यपि ऐसा कई बार हुआ पर वे उसी में लगे रहे और अपने अन्तिम लक्ष्य सर्वज्ञता को प्राप्त कर उसी में मग्न हो गये।

इस लघु निबन्ध के रूप में भगवान बाहुबली को प्रणामांजलि अर्पित करते हुए मैं इस मूर्ति और मूर्तिमान के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं और दन्त-कथाओं की चर्चा नहीं करना चाहता; क्योंकि एक तो वे इतनी चर्चित हो चुकी हैं, हो रही हैं और होंगी कि इनकी चर्चाओं में जाने से पिष्ट-पेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। दूसरे संबद्ध-असंबद्ध बहुचर्चित चर्चाओं को दुहराकर गंभीर पाठकों के समय का अपव्यय भी मुझे इष्ट नहीं है। मैं तो कुछ ऐसी चर्चा करना चाहता हूँ कि जो हमें उस मार्ग की ओर प्रेरित कर सके जिस मार्ग पर वह महातपस्वी युग की आदि में चला था और जिसका आख्यान हजार वर्ष से नहीं, अपितु युग की आदि से ही प्रेरणा देता आ रहा है।

भूस्वामित्व को हार कर तो सभी को छोड़ना पड़ता है, पर बाहुबली ने इसे जीतकर छोड़ा था। जीतकर छोड़ देने में जो सौन्दर्य और निष्पृहता प्रस्फुटित होती है, वह हारकर छोड़ने में कहाँ दिखाई देती है? बाहुबली का त्याग अप्राप्ति की मजबूरी नहीं, अपितु प्राप्ति का परित्याग था, विरक्तता का परिणाम था। बाहुबली की क्षमा 'मजबूरी में महात्मा गाँधी' का नाम नहीं थी, अपितु 'वीर का आभूषण' थी।

यह विशाल मूर्ति मात्र बाहुओं के असीम बलधारी की नहीं

है, अपितु असीम आत्मबलधारी की है। बाहुबली के बाहुओं का बल तो चक्रवर्ती भरत के साथ युद्ध में तब प्रदर्शित हुआ था, जब वे पोदनपुर के राजा थे। पर यह मूर्ति पोदनपुर के महाराजा की नहीं, परम तपस्वी मुनिराज बाहुबली की है, जिसमें उनके अजेय तपोबल का धीरोदात्तरूप प्रस्फुटित हुआ है। उन जैसा स्वाभिमानी और दृढ़संकल्पी व्यक्तित्व इतिहास में तो बहुत दूर, पुराणों के पृष्ठों में भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऐसा त्यागी, ऐसा तपस्वी, ऐसा निस्पृही, ऐसा दृढ़संकल्पी व्यक्तित्व कि जिसमें पीछे मुड़कर देखना सीखा ही न हो, जो जब युद्ध में जमा तो जमा ही रहा और विजयश्री का वरण करके ही दम ली तथा जब अपने में जमा, अपने में रमा, तो ऐसा रमा कि बाहर की ओर देखा ही नहीं; कर्म-शत्रुओं का नाश कर अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी का वरण कर इस युग के आरंभ में ही मुक्ति प्राप्त की। बाहुबली दिगम्बरत्व धारण कर जब अन्तर्मुख हुए तो फिर वे बाहर आये ही नहीं, कदाचित् उपयोग आत्मा से हटा भी तो फिर उसी में लगाने के अनन्त पुरुषार्थ में लग गये।

एक वर्ष तक लगातार वे या तो आत्मनिमग्नता की स्थिति में रहे या फिर उसे पुनः प्राप्त करने के सार्थक पुरुषार्थ में संलग्न रहे। दीक्षा के बाद भोजन ग्रहण करना, भोजन के लिए जाना तो बहुत दूर भोजन करने का विकल्प भी उन्हें छू नहीं सका। एक वर्ष तक ही क्यों, वे तो आज तक भी आत्मनिमग्न ही हैं। एक वर्ष तो उनकी साधना के उत्कर्ष का काल था, उसके बाद तो उनकी साधना सिद्ध हो गई, जो आज तक ही क्यों, अनन्त काल तक तद्रूप ही रहने वाली है।

आज करोड़ों आँखें जिनके प्रतिबिम्ब को आश्चर्य से निहार रही हैं, उन्होंने जब एक बार आँख बन्द की तो आज तक खोली ही नहीं। वे आँख रहते हुए उसे बिना खोले ही सब कुछ देखने-जानने लगे - तो कुछ काल के बाद अपनी निरर्थकता जान आँख ही क्या, आँखों का आधार देह भी चली गई और वे विदेह हो गये।

यह विशाल जिनबिम्ब-प्रतिबिम्ब तब का है, जबकि वे आत्मसाधनारत थे। परम-पावन नमन दिगम्बर दशा का यह अजोड़ जिनबिम्ब, दिगम्बरत्व की साधना का यह सर्वोत्कृष्ट प्रतीक जहाँ एक ओर जगत को दिगम्बरत्व की ओर आकृष्ट कर रहा है, वहीं दूसरी ओर यह भी जता रहा है कि दिगम्बरत्व हँसी-खेल नहीं है।

विन्ध्यगिरि पर स्थित लता-गुल्मों से आवेष्टित इस विराट दिगम्बर जिनबिम्ब की स्थापना का एक उद्देश्य शिथिलाचारी दिगम्बरों के समक्ष दिगम्बर-साधुता का एक कठोररूप प्रस्तुत करना भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि उस समय शिथिलाचार आरंभ हो गया था।

नवीं शती के आचार्य गुणभद्र आत्मानुशासन में दिगम्बर मुनियों की नगरवास की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए लिखते हैं :-

“इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावर्या यथा मृगाः।

वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः॥

जिसप्रकार इधर-उधर से भयभीत मृग रात्रि में वन को छोड़कर गाँव के समीप आ जाते हैं; उसीप्रकार इस कलिकाल

में मुनिजन भी वन को छोड़ गाँव के समीप रहने लगे हैं। यह खेद की बात है।”

नगरवास और सुख-सुविधाओं की ओर झुकाव वाले दिगम्बरों के सामने वन-जंगल में पर्वत की चोटी पर लता-गुल्मों से आवेष्टित मुनिदशा की यह मूर्ति निश्चित ही एक संकेत करती है। हो सकता है इसके निर्माण में इसके निर्माता का यह भाव भी रहा हो। एक गृहस्थ यदि मुनिराजों को कुछ कहना चाहे तो उसके लिए इससे सुन्दर रूप और कौन हो सकता था? अन्यथा उसने चौबीस तीर्थकरों की तथा अरहंत अवस्था की मूर्ति क्यों नहीं स्थापित की? लगता है मुनियों के सामने आदर्श उपस्थित करने के लिए मुनि अवस्था की मूर्ति बनाई गई, क्योंकि अरहंत की मूर्ति को तो बेलों से आवेष्टित किया नहीं जा सकता था। पूर्वपरम्परा से हटकर मुनिराज बाहुबली की बेलों से आवेष्टित मूर्ति की स्थापना में कोई विशेष कारण अवश्य होना चाहिए।

दिगम्बरत्व के प्रति द्वेष और अनास्था रखने वाले लोगों द्वारा दिगम्बर मुनियों के निर्बाध विहार में सदा ही अनेक बाधाएँ उपस्थित की गई हैं; तथा पद्मासन दिगम्बर जिनबिम्बों का श्वेताम्बरीकरण भी बहुत हुआ है। हो सकता है मूर्ति-निर्माता के हृदय में एक कारण यह भी रहा हो कि ऐसी नग्नदिगम्बर खड्गासन विशाल मूर्ति स्थापित की जावे कि नग्नता स्पष्ट होने से जिसका श्वेताम्बरीकरण न किया जा सके और जो नग्नदिगम्बर मुनियों के निर्बाध विहार के प्रमाण के रूप में उपस्थित रहे।

इन सब महत्त्वपूर्ण तथ्यों के उद्घाटन से अरुचि रखने वाले

यह कह सकते हैं कि ये सब तो आपकी (लेखक की) कल्पनाएँ हैं, पर मेरा कहना यह है कि चामुण्डराय जैसे विलक्षण बुद्धि के धनी राजनीतिज्ञ राजमंत्री के लिए संपूर्ण भारत की एकता, दिगम्बर मुनियों का आदर्श और उनके विहार की निर्बाधता तथा दिगम्बरत्व की निर्बाध प्रतिष्ठा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों के प्रति सजग रहना सम्भव ही नहीं, अपितु अत्यन्त आवश्यक एवं स्वाभाविक है।

दूसरी बात यह है कि जब हम गतानुगतिक ऊटपटांग निष्फल किंवदन्तियों को सत्य का रूप देकर प्रचारित करने में संकोच नहीं करते हैं, तो हमें इन बौद्धिक प्रतिपत्तियों को, जो कि सत्य के बहुत कुछ निकट होने के साथ-साथ प्रेरणास्पद एवं मार्गदर्शक भी हैं, यथायोग्य महत्त्व देना ही चाहिए।

यदि हम इस महान प्रसंग पर इस विशाल जिनबिम्ब के इन महत्त्वपूर्ण संकेतों को समझ सकें, जीवन में इनसे कुछ सीख सकें तो हमारा यह उत्सव तो सार्थक होगा ही, साथ में हम एकता के सूत्र में भी आबद्ध हो सकेंगे, शिथिलाचार से दूर रहकर दिगम्बरत्व की सच्ची प्रतिष्ठा स्थापित कर सकेंगे।

यह चर्चा तो मूर्ति, मूर्तिकार और मूर्तिप्रतिष्ठापक की भावना की हुई; आओ अब मूर्तिमान बाहुबली के जीवन-प्रसंगों पर भी दृष्टिपात करें।

धीर-वीर बाहुबली के जीवन-प्रसंगों में सर्वाधिक चर्चित प्रसंग है - भरत-बाहुबली युद्ध। जब दोनों ओर की सेनायें समरभूमि में युद्ध के लिए सन्नद्ध थीं, तभी मंत्रियों की ओर से

प्रस्ताव आता है कि युद्ध सेनाओं में नहीं दोनों भाइयों में हो और वह भी बिना हथियार के। तब निश्चित हुए तीन युद्ध - नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध।

इस प्रसंग पर गहराई से विचार करने पर अनेक गहरे संकेत परिलक्षित होते हैं। यह निर्णय क्रोध, मान और लोभोन्मत्त राजाओं के विरुद्ध विचारवान मंत्रियों की विजय का सूचक है, जिन्होंने युग के आदि में ही जर और जमीन के कारण होने वाले विनाशक युद्ध को एक अहिंसक युद्ध में बदल दिया, खूँखार युद्ध को क्रीड़ा-प्रतियोगिता का रूप दे दिया। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रतियोगितात्मक खेलों में युद्धोन्माद का विरेचन हो जाता है। हार-जीत में प्रतिफलित होने वाले खेलों का जन्म युग की आदि में इसी घटना से हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दूसरे, भरत से बाहुबली तो बाद में जीते, पर बाहुबली के मंत्री अपनी कूटनीति में भरत के मंत्रियों से पहले ही जीत चुके थे कि जब उन्होंने भरत के मंत्रियों और भरत से यह बात स्वीकृत करा ली थी; क्योंकि उन्होंने अपनी कूटनीति से भरत को निहत्था कर दिया था, जबकि भरत चक्रवर्ती की शक्ति तो चक्र था, उसकी सेना थी। चक्रवर्ती अकेले व्यक्ति का नाम नहीं; अपितु चक्रवर्ती के समस्त परिकरयुक्त व्यक्ति को चक्रवर्ती कहा जाता है। यह भूल भरत को तब समझ में आई, जबकि वे तीनों युद्धों में हार-से गये। यही कारण है कि उन्होंने क्रुद्ध होकर चक्र चला दिया। युद्ध के पहिले यह आवश्यक नहीं था कि भरत का पक्ष उक्त प्रकार की

शर्तें स्वीकार करे ही। छह खण्ड भरत के सामने नहीं, भरत चक्रवर्ती के सामने झुके थे और बाहुबली से भरत चक्रवर्ती नहीं, सिर्फ भरत लड़ रहे थे, चक्ररत्न से रहित भरत लड़ रहे थे।

जब मैं गहराई में जाता हूँ तो मुझे इसमें कुछ और भी नये संकेत दिखाई देते हैं। हो सकता है, उनसे आप भी सहमत हों।

दोनों ओर के मंत्री युद्ध टालना चाहते थे। “जनता या सेना क्यों मरे-कटे, दोनों भाई ही.....।” यह बात अपने स्वामियों के प्रति वफादार मंत्री कैसे सोच सकते हैं? अतः वे तो हर प्रकार से युद्ध टालना ही चाहते थे। वे जानते थे कि समस्या राज्य छीनने और आधीनता स्वीकार करने की उतनी नहीं है, जितनी मानापमान की है। सवाल बान-बात का है, मूँछ का है; जमीन का नहीं, राज्य का नहीं, नमस्कार करवाने और नहीं करने का भी नहीं, क्योंकि भाई के नाते तो बाहुबली नमस्कार करने को तैयार ही थे और यदि चक्र का प्रवेश रुकता नहीं तो भरत को बाहुबली को आधीन करने का विकल्प भी नहीं था।

भरत बाहुबली को आधीन करके कोई गुलाम नहीं बनाना चाहते थे, अपितु दायँ हाथ बनाना चाहते थे। बाहुबली भी चाहते तो प्रेम से चक्रवर्ती का सहयोग कर सकते थे, वहाँ उनका अपमान नहीं, बहुत बड़ा सम्मान होने वाला था।

समस्या बहुत बड़ी नहीं थी। यदि दोनों भाई स्नेह से मिलकर सुलझाना चाहते तो सहज सुलझ सकती थी। छह खण्ड में चक्रवर्ती तो सिर्फ एक होता है, तो क्या उसे छोड़कर और सब

गुलाम ही होते हैं? एक चक्रवर्ती के राज्य में लाखों चरम शरीरी तद्भव मोक्षगामी भी रहते हैं। तो क्या वे सब स्वाभिमान बेचकर रहते होंगे? मिथ्यादृष्टियों के राज्य में भी जब सम्यग्दृष्टि और व्रती स्वाभिमान पूर्वक रह सकते हैं और रहते भी हैं तो भरत तो सम्यग्दृष्टि थे, बड़े भाई थे, उनके चक्रवर्ती होने से बाहुबली का स्वाभिमान कैसे खण्डित हो सकता था?

दूतों के माध्यम से बात करने में कभी-कभी बात बनती नहीं, अपितु बनती बात बिगड़ जाती है। यहाँ हुआ भी ऐसा ही।

यदि भरत बाहुबली से स्वयं मिलते और स्नेहपूर्वक उनके सामने यह समस्या रखते तो हो सकता है बाहुबली सहज ही उस समय समस्या का समाधान प्रस्तुत कर देते। अतः मंत्रियों ने सोचा क्यों न दोनों भाईयों को आपस में मिला दिया जाय। जब उनकी आँख से आँख मिलेगी तो सब द्वेष गल जायेगा, स्नेह उमड़ पड़ेगा और समस्या का सहज समाधान हो जायेगा। नेत्रयुद्ध और कुछ नहीं था, मात्र दोनों की आँख से आँख मिलाने का उपक्रम था।

जिसके हृदय में अपराध भावना होती है, उसकी आँख नीची हुए बिना नहीं रहती। भरत की आँखें नीची इसलिए नहीं हुई कि वे कमजोर थीं; क्योंकि चक्रवर्ती की आँख सबसे अधिक शक्ति-सम्पन्न होती है, अपितु इसलिए नीची हुई कि उनके मन में यह अपराध भावना काम कर रही थी कि मैं बाहुबली से वह भूमि छीनना चाहता हूँ, जो उन्हें पिताश्री ऋषभदेव ने दी थी।

जब बात नहीं बनी तो मंत्रियों ने सोचा दोनों गर्मी में हैं, क्रोध में, मान में बेहोश हैं। बेहोश लोगों के मुँह पर पानी के छींटे मारने पर वे होश में आ जाते हैं; इस विचार से ही उन्होंने जलयुद्ध नहीं, जलक्रीड़ा-प्रतियोगिता रखी कि पानी में जाने से दोनों ठण्डे पड़ेंगे तथा छींटे पड़ने से होश में आवेंगे तो युद्ध मिलन में बदल जावेगा। पर यहाँ भी सफलता नहीं मिली और भिड़ने की बारी आई अर्थात् मल्लयुद्ध हुआ।

दोनों की रगों में एक पिता का खून बह रहा है, जब वह आपस में आलिंगित होगा तो अपना कमाल दिखाये बिना रहेगा ही नहीं; यह विश्वास था दोनों ओर के मंत्रियों का और वह सफल भी हो गया। बाहुबली का द्वेष राग में बदल गया। उन्होंने भरत को हाथों पर ऊपर उठा लिया पर नीचे पटक नहीं; चाहते तो पटक सकते थे, उन्हें चित्त कर सकते थे; पर अब जीतने का भाव नहीं रहा था, भाई के प्रति, पूज्य भाई के प्रति विनय का भाव जागृत हो गया था; अतः उन्हें कंधे पर बिठा लिया। उन्हें हराया नहीं, अपितु लड़ाई बिना फैसले के ही समाप्त कर दी; क्योंकि जो जीतना चाहता था, बाहुबली का वह मान गल गया था।

यद्यपि भरत हार नहीं पाये थे, पर उन्होंने हार के किनारे पहुँच कर हार का अनुभव किया और उनका क्रोध प्रज्वलित हो उठा। विवेक खो गया, उनका चक्रवर्तित्व हिलोरे लेने लगा और उन्होंने चक्र चला दिया। चेतन भरत ने विवेक खो दिया

था, पर जड़ चक्र ने नहीं खोया। वह बाहुबली को प्यार कर वापिस भरत के हाथ में आ गया। उसने बाहुबली को मारा नहीं, अपितु प्यार किया, पर उनके हाथ में रहा भी नहीं, लौट के आया भरत के हाथ में ही।

इसप्रकार उसने निर्णय दे दिया कि चक्रवर्ती तो भरत ही है, बाहुबली नहीं। बाहुबली का द्वेष जो भरत के स्पर्श से राग में बदल गया था – इस घटना से वह राग वैराग्य में बदल गया। इस तरह द्वेष राग में और राग वैराग्य में परिणमित हो गया।

इसप्रकार भरत चक्रवर्ती बन गये और बाहुबली उनके भी पूज्य।

इसप्रकार बाहुबली के इस सर्वाधिक मार्मिक जीवन-प्रसंग से वर्तमान सन्दर्भ में हम यह बात भी सीख सकते हैं कि गलत-फहमियों से उत्पन्न आपसी समस्याओं को यदि हम आमने-सामने बैठकर निपटा लें तो व्यर्थ के संघर्षों से बहुत कुछ बच सकते हैं तथा विनाशक युद्धों को अहिंसात्मक प्रतियोगिताओं में बदल कर विश्व को विनाश से बचाए रख सकते हैं।

भगवान बाहुबली के चरणों में शत-शत नमन करते हुए इस मंगल कामना के साथ विराम लेता हूँ कि यह महोत्सव हमारी एकता को मजबूत करे, दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा को वृद्धिगत करें एवं हम सबको भगवान बाहुबली के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करें।

